P: ISSN NO.: 2321-290X RNI : UPBIL/2013/55327 VOL-6* ISSUE-9*(Part-1) May- 2019
E: ISSN NO.: 2349-980X **Shrinkhla Ek Shodhparak Vaicharik Patrika**

धर्म सत्ता और समाज के बीच मुस्लिम स्त्री का अस्तित्व

सारांश

इस्लाम में सिद्धांततः स्त्री पुरुष के बीच कोई भेद नहीं हैं । कुरआन और हदीस के अनुसार जीवन के किसी भी क्षेत्र में स्त्री के अधिकार कम नहीं हैं । किन्तु व्यावहारिक रूप में भारतीय मुस्लिम स्त्री की दशा शोचनीय है । उसे उसके अधिकारों से वंचित रखा गया है । उसके अधिकारों का हनन करने के लिए इस्लाम धर्म जिम्मेदार नहीं है, बल्कि वे मुस्लिम उलेमा जिम्मेदार हैं जो धर्म की व्याख्या करने का अधिकार रखतें हैं । उन्होंने धर्म की ,और विशेष रूप से, स्त्री विषयक मुद्दों की व्याख्या मनमाने ढंग से इस प्रकार की है कि स्त्री को पुरुषों के अधीन रखा जा सके । जबरन पर्दा, आर्थिक परतंत्रता, तीन तलाक, बहुविवाह आदि ऐसे प्रश्न हैं जिनकी पुरुषवादी व्याख्या के कारण मुस्लिम स्त्री का जीवन नारकीय बन गया है । वास्तविकता यह है कि इस्लाम ने स्त्री के लिए संपत्ति में हिस्से की व्यवस्था की है, विवाह और तलाक में उसकी सहमति को अनिवार्य किया है, एक से अधिक विवाह के लिए कठोर नियम बनाए हैं किन्तु विडंबना यह है कि उलेमा की पितृसत्तात्मक सोच के कारण स्त्री त्रासद जीवन जीने के लिए अभिशप्त है ।

रहमान मुसव्विर
एसोसिएट प्रोफेसर,
हिंदी विभाग,
जामिया मिल्लिया इस्लामिया,
नई दिल्ली, भारत

मुख्य शब्द : मुस्लिम स्त्री, कुरआन, हदीस, तलाक, बहुविवाह, आर्थिक स्वतंत्रता, उलेमा

प्रस्तावना

किसी भी देशकाल और समाज में स्त्रियों की स्थिति पूर्णतः स्वतंत्र और समान नहीं है। मुस्लिम समाज में यह स्थिति अधिक चिंताजनक है। भारतीय मुस्लिम स्त्रियों की दशा अन्य समुदायों की स्त्रियों से भिन्न है। भारतीय समाज में स्त्री की स्थिति पर गौर किया जाए तो मुस्लिम समाज में स्त्री अधिक दयनीय है। शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार, हर मामले में मुस्लिम स्त्री की दशा सोचनीय है। मुस्लिम समाज में स्त्री की दशा में कोई परिवर्तन न होने का एक मुख्य कारण 'मुस्लिम पर्सनल लॉ बोर्ड' में समयानुरूप बदलाव न होना भी है। उसमें परिवर्तन की कोई आहट भी सुनाई नहीं देती। उलेमा ने स्त्रियों के पक्ष में प्रायः कुछ नहीं कहा है। बल्कि जब भी स्त्री और पुरुष के आपसी तनाव या अधिकारों या श्रेष्ठता का प्रश्न आया तो उन्होंने पुरुषों के हितों को सर्वोपरि रखा। इसके लिए उन्होंनें कुरआन की आयतों की मनमानी व्याख्या से भी गुरेज़ नहीं किया, जिसका सीधा प्रभाव स्त्रियों की ज़िंदगी पर पड़ता रहा है। कुरआन का अरबी भाषा में लिखा होना और अधिकाँश भारतीय मुसलमानों को इस भाषा का ज्ञान न होने के कारण उलेमा द्वारा बनाए नियमों को मानने के अलावा कोई और चारा नहीं है। मुस्लिम समाज का बहुत बड़ा तबक़ा इन उलेमा और कट्टरपंथी मौलवियों के झांसे में आ जाता है और अपनी बहन, बीवी, और बेटियों के ख़िलाफ़ ही खड़ा रहता है।

अध्ययन का उद्देश्य

प्रस्तुत शोध पत्र का उद्देश्य यह समझने का प्रयास है कि मुस्लिम स्त्री को इस्लाम में क्या अधिकार प्राप्त हैं और व्यावहारिक रूप से उसकी सामाजिक और आर्थिक स्थिति क्या है । यह भी विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है कि मुस्लिम स्त्री की वर्तमान स्थिति के क्या कारण हैं ।

विषय प्रस्तुति एवं विश्लेष्ण

व्यक्ति की स्वतंत्रता वस्तुतः उस अधिकार में निहित है जो उसे निर्णय लेने के लिए अधिकृत करता है। निर्णय का अधिकार आर्थिक स्वावलंबन में निहित है। अतः मुस्लिम स्त्री के संदर्भ में चर्चा करते हुए उसकी आर्थिक और सामाजिक स्थिति केंद्र में रहनी चाहिए। "मुस्लिम स्त्री आर्थिक रूप से स्वतंत्र नहीं है। उसके पास शिक्षा का अभाव है। वह स्कूल तो जाती हैं, पर चौथी–पाँचवी कक्षा के बाद पढ़ाई छोड़ देती हैं। मुस्लिम औरत का हिंदुस्तान में नहीं पढ़ने का मूल कारण गरीबी होती है। उनकी स्थिति अनुसूचित जाति की स्त्रियों की तरह हो गई हैं, जिस वजह से अनुसूचित जाति की औरतें नहीं पढ़

पाती, उसी वजह से मुस्लिम औरत भी नहीं पढ़ पाती।"[1]सामाजिक और आर्थिक पहलुओं को नज़र अंदाज़ कर मुस्लिम स्त्री की स्थिति को नहीं समझा जा सकता। उसका सामाजिक आर्थिक आधार कमज़ोर है, मुस्लिम स्त्री की स्थिति दलित स्त्रियों से भी अधिक पिछड़ी हुई है। सिमोन द बोउवा कहती हैं कि "औरत वह मानव–प्राणी है जो मूल्यों के जगत में अपने होने के मूल्य को उसी जगत में खोज रही है, जो आर्थिक और सामाजिक संरचना को जानने के लिए मूल्य के लिए अनिवार्य है। हमें औरत को पूरी परिस्थिति के अस्तित्वगत परिप्रेक्ष्य में ही समझना होगा।"[2]

इस्लाम एक मात्र ऐसा धर्म है जिसमें स्त्री–पुरुष के बीच समानता की बात की गई है। अन्य धर्मों में भी स्त्री की दयनीय स्थिति थी तथा उन्हें भी पितृसत्ता के अत्याचरों को सहना पड़ता था। यूरोप का ही उदाहरण लें तो उन्होंनें काफ़ी संघर्ष करने के बाद अपने अधिकारों को ग्यारहवीं–बारहवीं सदी में प्राप्त किया है। परंतु अरब जैसे देश में मुस्लिम समाज में स्त्री को ज़्यादा संघर्ष नहीं करना पड़ा क्योंकि इस्लाम धर्म ने उन्हें वही सब अधिकार छठी सदी में दे दिये थे। कुरआन, हदीस व अन्य धर्म ग्रन्थों का अध्ययन करने पर पता चलता है कि मुसलमान स्त्री के अधिकारों का हनन करने या उनमें कटौती करने के लिए इस्लाम धर्म ज़िम्मेदार नहीं है, बल्कि इसके लिए पूरी तरह से वे मुसलमान ज़िम्मेदार हैं जो धर्म की व्याख्या करने का अधिकार रखतें हैं। पैगंबर हज़रत मुहम्मद से पहले कोई भी समाज स्त्री को किसी भी तरह का अधिकार नहीं देता था। पैतृक संपत्ति में उसका कोई अधिकार नहीं था, पति से वैवाहिक संबंध अच्छे न होने पर उससे छुटकारा पाने का कोई उपाय या अधिकार उसके पास नहीं था। कई समाजों में लड़की को पैदा होते ही मार दिया जाता था। पुरुष प्रधान समाज में स्त्री को मात्र उपभोग की वस्तु माना जाता था।

इस्लाम स्त्री मुक्ति व समानता का संदेश लेकर आया। मगर यह समानता पुरुष प्रधान समाज द्वारा छीन ली गई। यदि मुस्लिम समाज की कुरीतियों पर बात की जाए तो पर्दा प्रथा सदियों से चली आ रही एक ऐसी कुरीति है जिसका संबंध तत्कालीन परिस्थितियों से था। इस्लाम के उदय के समय अरब की परिस्थितियां ठीक नहीं थी, वहाँ इस्लाम के विरोधियों का बोलबाला था जो स्त्रियों को पहचान कर उन पर हमला करते थे तथा उनके साथ दुष्कर्म करते थे। इस दुष्कर्म से बचाने तथा उनकी हिफ़ाज़त के मक़सद से इस रिवाज को मानने की हिदायत दी गई । इसका उल्लेख कुरआन में भी मिलता है–"ऐ नबी! अपनी पत्नियों और अपनी बेटियों और ईमान वाली स्त्रियों से कह दो कि वे अपनी चादरों का कुछ हिस्सा लटका लिया करें। इससे इस बात की अधिक संभावना है कि वे पहचानी न जाएँ और सताई न जाएँ।"[3]यह प्रथा सिर्फ एक व्यवस्था थी, लेकिन आज यह प्रथा मुस्लिम स्त्री के लिए कठोर बंधन तथा अभिशाप बन गई है। धर्म के नाम पर उन्हें बाहर जाने से रोका जाता है, उन्हें बुर्का पहनने की हिदायत दी जाती है जबकि उस समय बुर्के जैसी चीज़ कीकोई अवधारणा नहीं थी। इस्लाम धर्म औरत को केवल घर की चारदीवारी में कैद रखने का हिमायती नहीं है। बल्कि उसने तो स्त्री को आर्थिक स्वतंत्रता भी प्रदान की है। कुरआन की आयत "लिर्रिजालीन नसिबुम मिम्मा अक्तसाबू वलीलिन निसाइ नसिबुम मिम–मकतासबन○"[4]इस आयत का अर्थ है–पुरुषों ने जो कुछ कमाया है, उसके अनुसार उनका हिस्सा है और स्त्रियों ने जो कुछ कमाया है, उसके अनुसार उनका हिस्सा है। कुरआन में साफ़ कहा गया है कि स्त्रियाँ भी कमा सकती हैं, उन्हें भी अपनी आजीविका कमाने का पूरा अधिकार है। इस्लाम के इतिहास पर नज़र डाली जाए तो हज़रत मुहम्मद की बीवी हज़रत खदीजा चमड़े का व्यापार करती थी और एक बहुत बड़ी व्यापारी रहीं । जबकि आधुनिक युग में कट्टरवादी धर्म के रखवाले मानते हैं कि औरतों का असली कर्तव्य अपने बच्चों का पालन करना और अपने पति की सेवा करना है। इसलिए उन्हें बाहर काम करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

'मुस्लिम निजी कानून' भारत में एकमात्र ऐसा कानून है, जिसमें 'बहुविवाह' को मान्यता प्राप्त है। मुस्लिम समाज में 'बहुविवाह की प्रथा' मुस्लिम स्त्रियों के लिए अभिशाप है। इस्लाम धर्म में पुरुषों को जो अधिकार प्राप्त हैं उनका दुरूपयोग वे अपने हित में बहुत चालाकी से कर रहे हैं। अरब में इस्लाम के प्रादुर्भाव के समय ऐसी परिस्थितियाँ थीं जिन्होंने बहु–विवाह की अवधारणा को जन्म दिया। उस समय अरब में एक प्रकार की अराजकता व्याप्त थी, आपस में युद्ध होता रहता था। बहुत सी स्त्रियाँ विधवा हो जाती थीं और उनके बच्चे अनाथ। इन विधवा स्त्रियों और अनाथ बच्चों के संरक्षण और भरण पोषण के उद्देश्य से एक से अधिक विवाह को मान्यता मिली। इसी के साथ यह भी था कि बलशाली और अपराध प्रवृत्ति के लोग अपने विरोधियों की स्त्रियों को जबरन उठा ले जाते थे और अपनी पत्नी बना लेते थे। हज़रत मुहम्मद ने इन परिस्थितियों पर विचार करते हुए असंख्य बीवियाँ रखने की परंपरा पर रोक लगा दी और अधिकतम चार पत्नियाँ रखने की व्यवस्था दी। लेकिन साथ ही यह भी कहा गया कि उन चारों बीवियों के साथ एक जैसा सुलूक करना जरूरी है। यदि एक सा सुलूक न कर सको तो एक बीवी को ही रखो। कुरआन की सूराः अल–निसा में स्पष्ट आदेश है कि ''...यदि तुम्हें भय हो कि यतीमों के मामले में न्याय न कर सकोगे तो स्त्रियों (यानी उन यतीमों की माँओं) में से जो तुम्हारे लिए जायज़ हो दो–दो, तीन–तीन, और चार–चार तक विवाह कर लो , और यदि तुम्हें इसका भय हो कि उनके साथ समता का व्यवहार न कर सकोगे तो फिर एक ही पर बस करो..."[5] इस्लाम द्वारा पुरुषों को यह अधिकार जिन परिस्थितियों में दिया गया था आज वैसी परिस्थितियां नहीं हैं, लेकिन उस समय की व्यवस्था आज भी व्यवहार में है। विडंबना यह है कि पुरुष इसका प्रयोग अपने स्वार्थ के लिए करता है न कि स्त्री या अनाथों को सहारा देने के लिए। यह भी चिंताजनक है कि 'मुस्लिम पर्सनल लॉ बोर्ड' भी इसे मान्यता देता है। दिलचस्प बात तो यह है कि कुछ उलेमा यह मानते हैं कि दूसरी पत्नी लाने से पहले पुरुष को पहली पत्नी की सहमति लेने की ज़रूरत भी नहीं है, क्योंकि चार पत्नियाँ रखना तो पुरुषों का विशेषाधिकार है।

इसी पुरुषवादी मानसिकता के कारण कुछ उलेमा यहभीकहते हैं कि "पुरुष की सेक्स सम्बन्धी आवश्यकता की पूर्ति के लिए उन्हें एक से ज़्यादा पत्नियाँ रखना ज़रूरी है अन्यथा वेश्यावृति को बढ़ावा मिलेगा। उनका कहना था कि अगर एक पत्नी माहवारी से गुज़र रही है या गर्भवती है या उसने हाल में किसी बच्चे को जन्म दिया है तो पुरुष क्या करेगा ? उसके पास अपनी सेक्स सम्बन्धी अवश्यकता की पूर्ति करने के लिए दूसरी पत्नी होनी ही चाहिए।"[6]ऐसी बात तो पवित्र कुरआन में परोक्ष ढंग से भी कहीं नहीं कही गयी है, परंतु कुछ उलेमा द्वारा कुरआन की आड़ में पुरुषों द्वारा किए गए इस कृत्य को सही ठहराया जाता है।

इस्लाम धर्म से पूर्व विवाह के मामले में स्त्री की सहमति का कोई महत्व नहीं था । विवाह के नाम पर उसे बेच तक दिया जाता था। इस्लाम धर्म ने इस पर प्रतिबंध लगाया तथा स्त्री की सहमति के बिना विवाह को अवैध करार दिया। स्त्रियों को अधिकार दिया गया है कि शादी जैसा महत्वपूर्ण निर्णय उनकी रजामंदी से ही किया जाए। महारुद्दीन खां कुरआन के हवाले से अपने निबंध 'इस्लाम, मुसलमान और स्त्री' में लिखते हैं कि–"किसी विधवा का विवाह उससे मशविरा किये बिना न किया जाये और किसी कुंआरी का विवाह उसकी रजामंदी के बिना न करो।"[7]लेकिन मुस्लिम समाज में स्थिति प्रायः इसके उलट है। स्त्री अपने इस अधिकार से वंचित है। हालात इतने बदतर हैं कि गरीबी के कारण कई मुसलमान अपनी छोटी–छोटी बेटियों को पैसों के लालच में बेच देते हैं या दहेज की समस्या से बचने के लिए बहुत छोटी उम्र में उनका विवाह किसी अधेड़ से कर दिया जाता है।

तीन तलाक की समस्या मुस्लिम समाज में स्त्रियों के लिए पीड़ा बनी हुई है । इस्लाम पहला ऐसा धर्म है, जो स्त्रियों को अपने वैवाहिक संबंधो को सुधारने या उससे विच्छेद करने की पूर्ण स्वतन्त्रता देता है। कोई समाज स्त्री को उसके पति से अलग होने का अधिकार नहीं देता था। उसका पति उसके साथ अच्छा या बुरा चाहे जैसा व्यवहार करे उसे उसी के साथ रहना पड़ता था। आधुनिक युग में "यूरोपीय समाज ने अठाहरवीं शताब्दी में जब विवाह–विच्छेद का विधान किया तो इसे महान क्रांतिकारी कदम तथा पुराने बंधनों से मुक्त होने के लिए स्त्री समाज की एक महान विजय बताया गया।"[8] मगर इस्लाम धर्म ने यह अधिकार स्त्रियों को छठी शताब्दी में ही दे दिया था तथा इस क्रांति का सूत्रपात कर विवाह विच्छेद का विधान तय कर दिया था। विवाह विच्छेद की पूरी प्रक्रिया भी निर्धारित कर दी थी। मुस्लिम समाज में आज तलाक का यह विकृत रूप प्रचलित है कि कोई भी पति अपनी पत्नी को क्षण–भर में तीन बार तलाक कहकर उससे छुटकार पा सकता है। इस विकृत रूप के कारण प्रत्येक विवाहिता हर समय भय का जीवन व्यतीत करती है। एक ओर तलाक का यह रूप दूसरी ओर चार विवाह करने की छूट प्रत्येक विवाहित स्त्री के लिए त्रासदी है। इस्लाम में विशेष परिस्थिति में तलाक की अनुमति तो दी गई है लेकिन उसे निकृष्टतम कामों में से एक माना गया है।अरुण शौरी कुरआन के हवाले से लिखते हैं–"अल्लाह ने जो कुछ भी विधिसम्मत बनाया है, उसमें से कुछ भी तलाक से बढ़कर घृणास्पद नहीं है।"[9]इस्लाम धर्म के नियमों के अनुसार कोई भी पुरुष जल्दबाज़ी,गुस्सा,मज़ाक या नशे की हालत में तलाक़ नहीं दे सकता है। ऐसा करना सरासरअनुचित बताया गया है।

जल्दबाज़ी या गुस्से में एक साथ तीन बार तलाक़ कहकर संबंध विच्छेद कर लेना अवैध है। दुःखद यह है कि भारतीय मौलानाओं ने इस पर 'सही' की मुहर भी लगा रखी है। तलाक की एक पूरी प्रक्रिया है जिसमें संबंध बचाए रखने की पूरी संभावना है। पहले पुरुष अपनी पत्नी को पवित्रता की अवस्था में केवल एक बार तलाक दे। अगर पति–पत्नी अपनी ग़लतफ़हमी दूर कर लेते हैं तो दोनों साथ रह सकते हैं। यदि इसके बाद भी पति–पत्नी के संबंधो में गतिरोध बना रहता है तो अगले माह पवित्रता में वह फिर तलाक़ दे। इस दूसरी तलाक़ के बाद भी उनके पास पुनः एक साथ रहने का अवसर है। लेकिन यदि अभी भी संबंध सामान्य नहीं होते तो और पति तीसरे महीने में तलाक़ देता है तो पूर्ण रूप से पति पत्नी अलग हो जाते है। पवित्र कुरआन में कहा गया है कि जहां तक संभव हो तलाक न दिया जाए और यदि तलाक दिया जाये तो यह न्यायिक प्रक्रिया अपनानी जरूरी है । यदि कुरआन की आयतों का ठीक तरह से अध्ययन किया जाए, तो उसमें कहीं भी ऐसा सूत्र नहीं मिलता कि कोई भी पुरुष एक बार में तीन तलाक कहकर अपनी पत्नी का परित्यागकरसकता है। इस्लाम में तलाक के लिए एक प्रक्रिया निश्चित है और उस प्रक्रिया में सबसे पहले दोनों तलाक लेने वालों को समझाने का काम किया जाना चाहिए। इस संदर्भ में कुरआन में लिखा है कि "यदि तुम्हें पति–पत्नी के बिगाड़ का भय हो, तो एक फ़ैसला करने वाले पुरुष के लोगों में से और एक फैसला करने वाला स्त्री के लोगों में से नियुक्त करो । यदि वे दोनों सुधार करना चाहेंगे तो अल्लाह उनके बीच अनुकूलता पैदा कर देगा । निसंदेह अल्लाह सब कुछ जानने वाला, खबर रखने वाला है।"[10] यदि इस कोशिश के बाद भी मामला न सुलझे तो कुरआन में स्पष्ट शब्दों में आदेश है कि "तलाक दो बार है फिर सामान्य नियम के अनुसार उसे (स्त्री को) रोक लिया जाए या भले तरीके से विदा कर दिया जाए।"[11] इन आयतों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि कुरआन भी एक साथ तीन तलाक़ को मना करता है। कुरआन में नियत तलाक़ की प्रक्रिया के बरक्स उलेमा ने इस संबंध में पुरुषवादी और सामंती दृष्टि का परिचय दिया है। उलेमा के अनुसार तो तलाक़ देने के पीछे पति का क्या कारण बताना भी ज़रूरी नहीं है। हद तो यह है कि पत्नी की अनुपस्थिति में दिया गया तलाक भी मान्य होगा। अरुण शौरी *'फतवे, उलेमा और उनकी दुनिया'* में लिखते हैं कि उलेमा से प्रश्नकर्ता पूछता है कि "एक पति ने पत्नी की ग़ैर–मौजूदगी में तलाक दे दिया.... क्या वह तलाक़ प्रभावी माना जाएगा?" उलेमा इस सवाल के उत्तर में फ़रमाते हैं कि इस मामले में तलाक़ प्रभावी माना जाएगा, क्योंकि यह ज़रूरी नहीं जब तलाक़ दिया जाए उस समय औरत मौजूद हो या नज़दीक हो।[12] उलेमा ने अपने ऐसे अजीब फ़तवों से कुरआन की आयतों की अनदेखी की या ग़लत ढंग से व्याख्या की। कुरआन में दो

गवाहों का प्रावधान है। तलाक़ देते समय दो गवाहों का होना अत्यंत आवश्यक है ।

'मुस्लिम निजी कानून' का तीन तलाक़ का विधान स्त्री के पक्ष में नहीं जाता। तीन तलाक की दहशत में स्त्री लगातार आतंक के साए में जीती रहती है और जुल्म बर्दाश्त करती रहती है। इसका ग़लत इस्तेमाल स्त्री को दबाकर रखने में किया जाता है। इसी के चलते मुस्लिम स्त्री के पक्ष में 'खुला' की सुविधा इस्लाम धर्म देता है। खुला का अर्थ है–बंधन मुक्त होना। स्त्री सही अर्थों में अपने इस अधिकार का प्रयोग नहीं कर पाती है। आर्थिक पराधीनता स्त्री को ऐसे निर्णय नहीं लेने देती है। दूसरी ओर स्त्री की ओर से 'खुला–ए–तलाक' देने से पुरुष का गुनाह साबित होने पर भी स्त्री को 'मेहर' सहित अपने सभी अधिकारों से हाथ धोना पड़ता है। मुस्लिम स्त्रियों के पास गुजारा भत्ते की कोई व्यवस्था नहीं होती है। "उतराधिकारी के अधिकार मुस्लिम निजी कानून में यद्यपि हिन्दू निजी कानून से बेहतर है, किन्तु पुरुषों के समान, बराबर के अधिकार उन्हें भी प्राप्त नहीं हैं।"[13] मुस्लिम समाज में पनप रही कट्टरता के कारण स्त्री ज़िल्लत भरी ज़िंदगी जीने को विवश है। पति उसे तलाक़ दिये बिना ही चार–चार शादी कर सकता है और उससे यह पूछने का अधिकार भी कोई नहीं रखता कि उसने दूसरी शादी क्यों की? वहीं दूसरी ओर स्त्री की यह दशा है कि चाहे उसका पति उसके साथ कैसी भी बदसलूकी करे उसे उसके साथ ही रहना पड़ता है। इस्लाम ने जो सहूलत स्त्रियों को दी हैं, उन्हें इस समाज ने छीनकर स्त्री की जिंदगी को नरक समान बना दिया है। पति से तलाक लिए बिना स्त्री दूसरे विवाह के बारे में सोच भी नहीं सकती है। हालांकि इस्लाम में स्त्री को अधिकार है कि वह अपनी मर्जी से पति से अलग हो सकती है।

इस्लाम धर्म के नियमानुसार विवाह के समय 'मेहर' निश्चित किए जाते हैं। मेहर वह संपत्तिहैजोसोने, चांदी या धनराशि के रूप में लड़का अपनी नवविवाहिता पत्नी को अदा करता है। मुस्लिम स्त्री के लिए यह मेहर अत्यंत ही महत्वपूर्ण होते हैं। फ़तवा–ए–क़ाज़ी के अनुसार "मेहर विवाह का एक ऐसा आवश्यक अंग है कि यदि विवाह के समय उसका उल्लेख न हो तो भी विधि स्वतः संविदा के आधार पर उसको पूर्ण धारण कर लेगी।"[14] मेहर पति–पत्नी के पारस्परिक रिश्तों में विश्वास पैदा करता है। नियमानुसार यह धनराशि निकाह के समय या प्रथम मिलन के समय दे दी जानी चाहिए लेकिन पति–पत्नी के पारस्परिक समझ के आधार पर यह पति के पास अमानत के तौर पर भी रहती है। यदि किसी कारणवश पति–पत्नी के मध्य तलाक़ की स्थिति बनती है तो पति द्वारा पत्नी को मेहर की रक़म देनी होती है और यह रक़म उस स्थिति में स्त्री को वित्तीय सहायता प्रदान करती है। लेकिन जिस उद्देश्य से मेहर जैसी व्यवस्था बनाई गई थी, वह प्रभावी रूप में प्रचलन में नहीं है। स्त्री अपने इस अधिकार से भी वंचित रहती है। जबकि कुरआन में वर्णित है कि "स्त्रियों को उनकी मेहर खुशी से अदा करो। हाँ यदि वे अपनी खुशी से उसमें से तुम्हारे लिए छोड़ दे तो उसे तुम अच्छा समझ कर खाओ।"[15] लेकिन मुस्लिम समाज ने तो स्त्रियों के इस अधिकार को पितृसत्तात्मक मानसिकता के अनुसार सुविधा–जनक बना लिया है और व्यावहारिक रूप में स्त्रियों को इस अधिकार से वंचित कर दिया गया है।

इस्लाम पहला ऐसा धर्म है, जिसमें स्त्री–पुरुष को समान दर्जे का माना गया है। उन्हें संपत्ति में समान अधिकार दिया गया है। कुरआन में कहा गया है कि "...मैं तुममें से किसी कर्म करने वाले के कर्म को अकारथ नहीं करूंगा, चाहे वह पुरुष हो या स्त्री,तुम सब आपस में एक–दूसरे से हो।"[16]स्त्री पुरुष की समानता का संदर्भ कुरआन में कई स्थानों पर उल्लेखित है। सूरः बक्र में कहा है कि–"हुन्ना लिबासुल्लकुम व अंतुम लिबसुल्लहुन"[17]अर्थात वह तुम्हारे लिए लिबास है, तुम उनके लिए लिबास हो । पति–पत्नी दोनों एक–दूसरे के लिए लिबास की तरह हैं अर्थात दोनों एक–दूसरे की मर्यादा और सम्मान की रक्षा करते हैं। कुरआन में पति–पत्नी दोनों के लिए एक शब्द लिबास इस्तेमाल करने से पता चलता है कि दोनों का एक ही दर्जा है। इस्लाम ने स्त्रियों को भी पुरुषों की ही तरह माता–पिता की चल–अचल संपत्ति में हिस्से की बात की है। इस बात से स्पष्ट है कि इस्लाम की दृष्टि में स्त्री–पुरुष बराबर हैं–"पुरुष का उस माल में एक हिस्सा है जो माँ–बाप और नातेदारों ने छोड़ा हो, और स्त्रियों का भी उस माल में एक हिस्सा है जो माल माँ–बाप और नातेदारों ने छोड़ा हो या अधिक हो। यह हिस्सा निश्चित किया हुआ है।"[18] इस्लाम धर्म ने तो स्त्री के अधिकारों की पुरज़ोर वकालत की है लेकिन वास्तविकता यह है कि "कुरआन को खुदा का आदेश मानने वाले मुसलमानों ने ही मुस्लिम स्त्री को इस अधिकार से वंचित कर रखा है। मुस्लिम स्त्री में इतना हौसला नहीं है कि वह अपने इस अधिकार के लिए कानूनी लड़ाई लड़ सके।....सच्चाई यह है कि मुसलमान स्त्री के अधिकारों पर डाका डालने वाले मुसलमान पुरुष ही हैं जो उसे आर्थिक व सामाजिक रूप से समान नहीं देखना चाहते।"[19] इस्लाम की नजर में स्त्री–पुरुष बराबर हैं इसलिए वह दोनों को सज़ा देने के मामले में बराबर है। दुष्कर्म के मामले में कुरआन में समान सज़ा की बात कही गई है–"व्याभिचारिणी और व्याभिचारी इन दोनों में से प्रत्येक को सौ–सौ कोड़े मारो।"[20]

निष्कर्ष

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि इस्लाम धर्म की सहानुभूति स्त्री के साथ है। इसके विपरीत कट्टर उलेमा की सहानुभूति पुरुषों के साथ है जो आज के आधुनिक समाज में भी स्त्री पर हावी हैं। वे पुरुषों को और ताकतवर बनाना चाहते हैं। अतः कुरआन और हदीस द्वारा निश्चित व्यवस्था के आलोक में मुस्लिम समाज को परखने पर यह तथ्य उभर कर आता है कि मुस्लिम स्त्री की वर्तमान दयनीय स्थिति के लिए इस्लाम धर्म ज़िम्मेदार नहीं है बल्कि वे उलेमा तो ज़िम्मेदार हैं जो जो कुरआन की आयतों की ग़लत व्याख्या करते हैं। इस्लाम का वह सामान्य अनुयायी भी उतना ही जिम्मेदार जो कुरआन और हदीस का स्वयं अध्ययन न करके अधकचरा ज्ञान रखने वाले मौलानाओं की बातों का आँख बंद करके अनुकरण करता है।

स्पष्ट है कि मुस्लिम परिवार पितृसत्तात्मक व्यवस्था के अधीन है जिसमें स्त्री को दोयम दर्जे पर रखा

जा रहा है। सैद्धांतिक दृष्टि से इस्लाम में स्त्री का स्थान बहुत ऊंचा है परंतु व्यावहारिक स्तर पर यह अधिकार केवल मिथ बनकर रह गया है। मुस्लिम समाज में पितृसत्तात्मक व्यवस्था का जबरदस्त प्रभाव दिखाई देता है। भारतीय मुस्लिम समाज की संरचना लगभग हिंदू समाज की तरह ही जातिवादी है। वे भी परंपरावादी, जातिवादी, रूढ़ियों से ग्रस्त और उंच–नीच के भेदभाव से ग्रस्त हैं। पितृसत्तामक मूल्यों में पगे मुस्लिम विधिवेत्ता, मौलाना और उलेमा केवल अपने लाभ और अहं की संतुष्टि के लिए पक्षपातपूर्ण फ़तवे देते हैं जो प्राय पुरुषों के पक्ष में और स्त्री के विरोध में जाते हैं। इस्लाम द्वारा बनाए गए नियम स्त्री के पक्ष में होते हुए भी स्त्री के विरुद्ध मोड़ दिये गये हैं। अतः इस्लाम धर्म ने जो सत्ता स्त्री को दी वह समाज ने उससे छीन ली और आज मुस्लिम स्त्री अन्य समाज की स्त्री की तुलना में अधिक चिंताजनक स्थिति में है।

अंत टिप्पणी

1. *जोया हसन, मुस्लिम समाज में महिलाओं की बदहाली का कारण धार्मिक नहीं आर्थिक, हंस (भारतीय मुसलमान : वर्तमान और भविष्य), अगस्त 2003, पृ. –15*
2. *सिमोन द बोउवा, स्त्रीउपेक्षिता, (हि.अनु. प्रभा खेतान), पृ.–44*
3. *कुरआन, सूराः अल–अहजाब, आयत न.59, (हिन्दी अनुवाद, डॉ. मुहम्मद अहमद), पृ.–592*
4. *कुरआन, सूराः अल–नास, आयत न. 32, (हिन्दी अनुवाद, डॉ. मुहम्मद अहमद),पृ.–114*
5. *कुरआन , सूरः अल–निसा, आयत 03 (मक्तबा अल–हसनात रामपुर से प्रकाशित, 1970)*
6. *असगर आली इंजीनियर, धर्म और साम्प्रदायिकता, पृ. –38*
7. *महरुद्दीन खाँ, इस्लाम, मुसलमान और स्त्री, (स. राजकिशोर, भारतीय मुसलमान मिथक और यथार्थ), पृ.–106*
8. *महरुद्दीन खाँ, इस्लाम, मुसलमान और स्त्री, (स. राजकिशोर, भारतीय मुसलमान मिथक और यथार्थ), पृ.–108*
9. *अरुण शौरी, फतवे,उलेमा और उनकी दुनिया, पृ. –266*
10. *कुरआन,सूराः अल–निसा, आयत न. 35(हिन्दी अनुवाद, डॉ.मुहम्मद अहमद), पृ.–115*
11. *कुरआन, सूराः अल–बक्र, आयत न. 229, (हिन्दी अनुवाद, डॉ.मुहम्मद अहमद), पृ.–48*
12. *अरुण शौरी,फतवे,उलेमा और उनकी दुनिया, पृ.–270*
13. *रेखा कस्तवार, स्त्री चिंतन की चुनौतियाँ,पृ.–116*
14. *टी.जे.रेखा रानी,उत्तरशती के हिन्दी उपन्यासों में मुस्लिम जन–जीवन,पृ.–54*
15. *कुरआन,सूराः अल–निसा,आयत न. 04, (हिन्दी अनुवाद, डॉ.मुहम्मद अहमद), पृ.–106*
16. *कुरआन,सूराः आले इमरान, आयत न. 195, (हिन्दी अनुवाद, डॉ.मुहम्मद अहमद), पृ.–104*
17. *कुरआन, सूराः अल–बकर, आयत न. 187, (हिन्दी अनुवाद, डॉ.मुहम्मद अहमद), पृ.–37*
18. *कुरआन,सूराः अल–निसा, आयत न.07, (हिन्दी अनुवाद, डॉ.मुहम्मद अहमद), पृ.–106*
19. *महरुद्दीन खाँ, इस्लाम, मुसलमान और स्त्री, (स. राजकिशोर, भारतीय मुसलमान मिथक और यथार्थ), पृ.–106*
20. *कुरआन, सूराः अल–नूर, आयत न. 02, (हिन्दी अनुवाद, डॉ.मुहम्मद अहमद), पृ.–487*